उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ | जुलाई—१९८४ | अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक
शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

गहरे कुएँ के किनारे खड़ा हुआ आदमी हर समय सावधान रहता है ताकि वह कुएँ में गिर न पड़े। इसी प्रकार, संसार में रहते हुए मनुष्य को सदा वासनाओं से सावधानी बरतनी चाहिए। अगर कोई एक बार इस वासनापूर्ण संसार-कूप में गिर पड़े तो वह उसमें से शायद ही सही-सलामत बाहर निकल पाता है।

(२)

अच्छा फौलाद बनाने के पहले लोहे को बार-बार भट्ठी में तपाना पड़ता है और बार-बार हथौड़े से पीटना पड़ता है। तभी उससे पतली धारदार तलवार बन सकती है, जिसे चाहे जैसा झुकाया जा सकता है : इसी तरह, शुद्ध नम्र बनकर ईश्वरदर्शन की योग्यता प्राप्त करने के पहले मनुष्य को भी शोक-ताप में जलना पड़ता है; दुःख-क्लेश की चोट सहनी पड़ती है।

(३)

तराजू का जो पल्ला भारी होता है वह नीचे चला जाता है और जो हलका होता है वह ऊपर उठ जाता है। इसी तरह, जिसके भीतर धन, मान-सम्मान आदि नाना सांसारिक चिन्ताओं का भार रहता है वह संसार में डूब जाता है, पर जिसके भीतर यह सब नहीं होता वह ऊपर उठकर ईश्वर के राज्य में पहुँच जाता है।

(४)

यदि साधक को कोई दुष्ट स्त्री अपने मोह-जाल में फँसा ले तो क्या होगा? जिस प्रकार पके आम को जोर से दबाने पर गुठली और गूदा फट से निकलकर दूर छिटक जाता है, हाथ में केवल छिलका ही रह जाता है, उसी प्रकार, ऐसी स्त्री के हाथ पड़ते ही साधक का मन झट ईश्वर में चला जाता है, देह भर पड़ी रह जाती है।

कौपीनपञ्चकं स्तोत्रम्

—श्रीमत् शङ्कराचार्य

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः ।
अशोकवन्तः करुणैकवन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥

मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः पाणिद्वयं भोक्तुममत्रयन्तः ।
कन्थामपि स्त्रीमिव कुत्स्यन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥२॥

देहाभिमानं परिहृत्य दूरादात्मानमात्मन्यवलोकयन्तः ।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥३॥

स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः स्वशान्त सर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः ।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥४॥

पञ्चाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः ।
भिक्षाशनादिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥५॥

सदैव उपनिषद् के वाक्यों में रमते हुए, भिक्षा के अन्न मात्र में ही संतोष रखते हुए, शोक रहित तथा दयावान् कौपीन धारण करनेवाले ही भाग्यवान् हैं ॥१॥

केवल वृक्षतलों में रहनेवाले, दोनों हाथों को ही भोजन पात्र बनाने वाले, गुदड़ी को भी स्त्री की भांति तुच्छ बुद्धि से देखने वाले कौपीनधारी (संन्यासी) ही भाग्यवान् हैं ॥२॥

देहाभिमान को दूर से ही छोड़कर, अपनी आत्मा को अपने में ही देखते हुए रात-दिन ब्रह्म में रमण करने वाले कौपीनधारी ही भाग्यवान् हैं ॥३॥

आत्मानन्द में ही संतुष्ट रहने वाले, अपने भीतर ही सारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ शान्त कर देने वाले, अन्त, मध्य और बाहर की स्मृति से शून्य रहने वाले कौपीनधारी ही भाग्यवान् हैं ॥४॥

पवित्र पञ्चाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) का जप करते हुए, हृदय में परमेश्वर की भावना करते तथा भिक्षा का भोजन करते हुए सब दिशाओं में विचरण करने वाले कौपीनधारी ही भाग्यवान् हैं ॥५॥

सम्पादकीय सम्बोधन

प्रार्थना नित कर, नित कर, नित कर !

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

उस दिन धूप बहुत कड़ी थी। बैसाख की धूप। हवा थम-सी गयी थी। पेड़-पौधे सभी ठिठके खड़े थे। धरती भगवती अपर्णा पार्वती की भाँति मानो महा तप में लीन थी। चिड़ियों की चहचहाहट बन्द थी। आकाश नीरव था, पृथ्वी प्रशान्त। साँसें गर्म हो गयी थीं। दोपहर के सूरज की किरणें आग की लपटों का जाल बुन रही थीं। नदी का पानी खौल रहा था और मछलियाँ कहीं डुबकी पड़ी थीं। लगता था, सारा संसार एक आकुल-मौन प्रार्थना में डूब गया है। परमात्मा से मिलने का एक आंतरिक ताप ही मानो बाहर की उष्णता में उभर गया हो।

शाम होते-न-होते मेघ का एक टुकड़ा आकाश के पश्चिमी छोर पर तैरने लगा। फिर शीतल समीर का एक झोंका मेघ से जा टकराया। आकाश में लताओं की तरह घटा फैल गयी। फिर प्रार्थना में झुकी किसी पुजारिन की भाँति वह प्रणति की मुद्रा में विनत हुई और धीरे से बरसने लगी। धरती भींग गयी। पक्षी चहचहा उठे। पौधे नहा कर हरिताभ हो गये। दिन का ताप शाम की फुहार भरी शीतलता में बह गया। साँसें स्निग्ध हुईं। मन आत्ममुग्ध खोया रहा।

ऐसा ही होता है। ताप-तप्त धरती की प्रार्थना भरी मौन पुकार—एक छाँह के लिए, एक रस-फुहार के लिए की गयी मौन पुकार—सुनी गयी और घटा बरस पड़ी। धरती निहाल हो गयी, जल से भींग कर जुड़ा गयी, धन्य हो गयी।

हर प्रार्थना सुनी जाती है। हर प्रार्थना का उत्तर मिलता है। हर प्रार्थना इच्छित फल-प्रदायिनी होती है।

प्रार्थना तब सुनी जाती है जब प्रार्थी अपनी प्रार्थना में अपने प्राणों का बल, अपने प्राणों का तेज, अपने प्राणों का अर्क डाल देता है। प्राणों की अतलता से निकलनेवाली प्रार्थना सीधे प्रभु के, आराध्य के, प्रार्थ्य के प्राणों में उतरती है। वह प्रभु को झकझोरती है, हिलाती है, रिझाती है, आन्दोलित करती है। प्रभु ऐसी प्रार्थना को सुने बिना रह ही नहीं सकते, उसे अनसुनी कर ही नहीं सकते, उसका उत्तर दिये बिना रुक ही नहीं सकते। हम जानते हैं; ध्रुव और प्रह्लाद की प्रार्थना सुनी गयी, बुद्ध और जीसस की प्रार्थना सुनी गयी, रबिया और मीराबाई की प्रार्थना सुनी गयी, कमलाकान्त और रामप्रसाद की प्रार्थना सुनी गयी।

प्रार्थना प्राणों की बाँसुरी की रागिनी है। जब भी यह बाँसुरी बजेगी, हमारे आराध्य का मन राधा की भाँति डोलने लगेगा।

बजी बाँसुरी वेणु कुंज में राधा का मन डोला
हाय, बाँस की इस लकड़ी में किसने यह रस घोला ?
'क्या रहस्य, बोलो जादूगर !'—पूछा मैंने विस्मित
"मैंने इस सूखी लकड़ी में प्राणों का रस घोला।"

श्रीकृष्ण ने वंशीवट में बाँसुरी बजायी—सूखे बाँस की बाँसुरी। मगर उसकी रस भीनी, मीठी मधुर तान सुनकर ही राधा का मन मचलने लगा। वह अपने घर

में अब रह नहीं सकती। उसे जाना ही होगा—बंशी टेरने वाले वंशीधर के पास। बाँसुरी पर उसी के नाम की पुकार मीठी धुन बन कर तैर जो रही है! उसी के नाम प्रार्थना के स्वर वायुमंडल में लहरा जो रहे हैं। नहीं, राधा रुक नहीं सकती। यह प्रार्थना भरी आकुल टेर उसकी छाती को छलनी किये जा रही है। मगर राधा सोचती है, बाँस की इस लकड़ी में इतनी जान-लेवा मिठास कहाँ से भर गयी? किसने इसमें इतना अमृत-रस घोल दिया है? वह स्वयं कृष्ण से ही पूछ बैठती है—'ओ जादूगर! बताओ तुम्हारी बाँसुरी में भरी इस हियहारी मिठास का राज क्या है, रहस्य क्या है?' और कृष्ण ने उत्तर दिया--'ओ राधे, इस लकड़ी में, बाँस की इस सूखी लकड़ी में मैंने तुम्हारे लिए अपने प्राणों का आकुल क्रन्दन; आतुर चीत्कार, अतल वेदना और अतुल लालसा का रस घोल दिया है। इसीसे बाँसुरी में दर्द पैदा करनेवाली ऐसी स्वर-लहरी भर गयी है।

मगर बाँसुरी की भी अपनी खूबियाँ होती हैं। उसकी पहली खूबी यह है कि उसमें गाँठ नहीं होती। बाँसुरी है, तो गाँठ नहीं होगी; गाँठ है, तो बाँसुरी नहीं होगी। बाँसुरी बनने के लिए अपने भीतर की गाँठ खत्म करनी होगी, अपना अहंकार मिटाना होगा। जहाँ गाँठ है, वहाँ बाँसुरी नहीं; जहाँ अहंकार है, वहाँ प्रार्थना नहीं। बाँसुरी होना, गांठ का विसर्जन करना है; प्रार्थना करना, अहंकार का विसर्जन करना है।

बाँसुरी की दूसरी खूबी यह है कि वह भीतर से रीती है, खाली—बिलकुल खाली। उसके भीतर कहीं कुछ नहीं। भीतर एक कंकड़ भी हो, लकड़ी का एक टुकड़ा भी हो तो बाँसुरी नहीं बज सकती। बाँसुरी ने छोड़ दिया है अपने को बजाने वाले की इच्छा पर, कर दिया है अपने को बजाने वाले के हवाले। बाँसुरी के भीतर अपनी कोई चाह नहीं, अपनी कोई इच्छा-अभिलाषा नहीं, कोई कामना नहीं। वह किसी एक राग, किसी एक सुर, किसी एक लय की आग्रही नहीं। बजाने वाला जिस सुर, जिस लय या जिस राग को उसमें भरे वह उसी में बज उठेगी। प्रार्थना में भी प्रार्थी को अपने प्रिय, अपने आराध्य के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं रहती। प्रार्थना इच्छाओं के विसर्जन का नृत्य है। प्रार्थना कामनाओं के परिनिर्वाण की रागिनी है। प्रार्थना लाल-साओं के लोप का उद्‌गीथ है।

प्रार्थना समर्पण—एकान्त और समग्र समर्पण—का संगीत है। समर्पण प्रेम के विना नहीं हो सकता। एक समर्पण भय से भी होता है। पर वह शरीर का होगा, मन का नहीं। मन का समर्पण विना प्रेम के नहीं हो सकता और प्रेम के मूल में ही अचाह है—कामना शून्यता है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है—"पुरस्कार या प्रतिदान पाने के उद्देश्य से प्रेम करना भिखारी का धर्म है, व्यवसायी का धर्म है, सच्चे धर्म के साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध है। कोई भिक्षुक न बने, क्योंकि वैसा होना नास्तिकता का चिह्न है। 'जो आदमी रहता तो है गंगा के तीर पर, किन्तु पानी पीने के लिए कुआँ खोदता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'—जड़ वस्तु की प्राप्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करना भी ठीक वैसा ही है। भक्त को भगवान् से सदा इस प्रकार कहने के लिए लिए तैयार रहना चाहिए—'प्रभो, मैं तुम से कुछ भी नहीं चाहता, मैं तुम्हारे लिए अपना सब कुछ अर्पित करने को तैयार हूँ।'"[१]

आप प्रश्न करेंगे कि अगर प्रभु से कुछ माँगना ही नहीं है, तो फिर प्रार्थना की ही क्यों जाय? क्या विना प्रार्थना के हम रह नहीं सकते? उत्तर में मैं निवेदन करना चाहूँगा कि प्रार्थना के बिना हम रह ही नहीं सकते। प्रार्थना हमारा प्रकृत धर्म है, हमारा स्वभाव है, हमारी स्ववृत्ति है। आप देखेंगे, अगर गौर से देखें,

---

१. विवेकानन्द साहित्य : द्वितीय संस्करण : पंचम खंड : पृ० २८४।

कि सारा संसार ही एक विराट् प्रार्थनागार है। सदैव और सर्वत्र एक प्रार्थना उठ रही है, एक ध्वनि-तरंग गूँज रही है, एक मंत्र, एक श्लोक, एक ऋचा धूपवत्ती के लहरदार धुएँ की भाँति आकाश की ओर बढ़ रही है।

यह प्रार्थना कहीं मौन है, कहीं मुखर। हिमालय स्थिर भाव से मौन प्रार्थना में खड़ा है। सागर मुखर प्रार्थना का स्वर अपने ज्वारों में उठा रहा है। पेड़ों की मर्मराहट, चिड़ियों की चहचहाहट, नदियों की कलकल और झरणों की टलमल ध्वनि में कोई अनवरत, अन्तहीन प्रार्थना ही तो गूँज रही है। हम अगर प्रार्थना नहीं करते तो कारण यह है कि हम अपनी प्रकृति की चिनगारी पर जड़ता की राख डाले बैठे हैं और अपने ही जीवन के बोझ को अपने कंधों पर ढोकर थके हैं। प्रार्थना अपना बोझ उतार देने की कला है, अपनी जिन्दगी की थकान मिटाकर परम विश्राम में जीने का विज्ञान है।

दूसरी बात, प्रार्थना प्रिय को पाने की पुकार है। जब प्रिय ही मिल गया तो फिर और क्या चाहिए? क्या प्रिय हमारे अभावों को, दुःख-दर्दों को नहीं जानता? फिर प्रार्थना हमारे अहंकार को गलाकर हमारी चित्त-शुद्धि करती है। वह हमारी गाँठ को मिटा देती है, हमें प्रभु तक ले जाने के योग्य बनाती है।

प्रार्थना एक सेतु है। वह जोड़ती है प्रार्थी को अपने प्रभु से, अपने प्रिय से। वह दोनों के बीच की दूरी को मिटाती है, दीवार को गिराती है, अन्तराल को तोड़ती है। प्रार्थना प्रभु और प्रार्थी, उपास्य और उपासक को रू-ब-रू, आमने-सामने खड़ी कर देती है—आलाप-संलाप के लिए, दर्शन-दिग्दर्शन के लिए, ग्रहण-समर्पण के लिए, दोनों के एकीकरण के लिए।

श्रीरामकृष्ण ने एक भक्त को भगवान् से प्रेम करने का परामर्श दिया। भक्त ने कहा—'मैं भगवान् से प्रेम करना नहीं जानता।' श्रीरामकृष्ण ने तब कहा—'सतत उनका नाम लेते रहो। इससे तुम्हारे भीतर से काम, क्रोध, देह-सुख भोगने की वासना आदि सब दूर हो जायँगे।' भक्त ने कहा—'पर मुझे भगवान् के नाम में रस नहीं मिलता। श्रीरामकृष्ण ने उत्तर में कहा—"तब उन्हीं से व्याकुल होकर प्रार्थना करो जिससे तुम्हें नाम में रुचि हो। वे तुम्हारी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे।.... सन्निपात के रोगी की यदि भोजन के प्रति रुचि जाती रहे तो फिर उसके बचने की आशा नहीं रहती; पर यदि थोड़ी भी रुचि रहे तो बचने की बहुत आशा रहती है। इसलिए नाम में रुचि पैदा करो। भगवान् का नाम लेते रहो! दुर्गा नाम, कृष्ण नाम, शिव नाम—जो नाम तुम्हें अच्छा लगे वही लिया करो। यदि नाम लेते हुए दिनों-दिन नाम के प्रति अनुराग बढ़ता जाए, उसमें अधिकाधिक आनन्द मिले, तो फिर तुम्हें कोई भय नहीं। तुम्हारा सन्निपात का विकार जरूर कट जायगा, उनकी कृपा जरूर होगी।[2] मैं एक नाम और जोड़ देता हूँ—श्रीरामकृष्ण का नाम। श्रीरामकृष्ण का नाम यदि आपको प्रिय हो, और मैं समझता हूँ, होगा ही, तो आप उनका नाम लेते रहें। उनसे अपना दर्शन देने के लिए प्रार्थना करते रहें। वे आपकी पुकार सुनेंगे, आपकी प्रार्थना का उत्तर देंगे।

सच पूछिए तो प्रार्थना की नहीं जाती, प्रार्थना हुई जाती है। करने में आयास है, श्रम है, होने में स्वाभाविकता है, सहजता है। श्रम थकाता है। श्रमपूर्वक पौधों को सींचने के कार्य में थकान होगी। लेकिन पौधा सहज-स्वाभाविक गति से बढ़ता है तो उसे थकान नहीं होती। बीज पौधा बनने का कार्य नहीं करता, वह पौधा हो जाता है। बीज का पौधे में सहज रूपान्तरण होता है। बच्चा सहज भाव से बढ़ता जाता है। इसलिए उसे अपने बढ़ने में थकान नहीं होती। इसी तरह

---

२. अमृतवाणी : रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ० ९४-५।

प्रार्थना का फूल जब हमारे भीतर खिलता है, सहज भाव से प्रस्फुटित होता है तब हम स्वयं प्रार्थना हो जाते हैं। शंकराचार्य की स्तुति है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥
(शिव मानस पूजा : श्लोक ४)

अर्थात्, हे शम्भो ! मेरी आत्मा तुम हो, बुद्धि पार्वतीजी हैं, प्राण आपके गण हैं, शरीर आपका मन्दिर है, सम्पूर्ण विषय-भोग की रचना आपकी पूजा है, निद्रा समाधि है, मेरा चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है तथा सभी शब्द आपके स्तोत्र हैं, इस प्रकार मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।

यह स्तुति प्रार्थना हो जाने, प्रार्थनामय बन जाने की स्थिति की वाणी है। प्रार्थना हो जाने के लिए ही शुरू में प्रार्थना करने की जरूरत होती है। श्रीरामकृष्ण देव प्रायः कहा करते—"सुबह-शाम ताली बजाते हुए हरि नाम गाया करो, ऐसा करने से तुम्हारे सब पाप-ताप दूर हो जाएँगे। जैसे पेड़ के नीचे खड़े होकर ताली बजाने से पेड़ पर के सब पंछी उड़ जाते हैं, वैसे ही ताली बजाते हुए हरिनाम लेने से देहरूपी वृक्ष पर से सब अविद्या रूपी चिड़ियाँ उड़ जाती हैं।"

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव से मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि वे हम सब में वह शक्ति और प्रेरणा प्रदान करें कि हम नित्य प्रार्थना करते-करते स्वयं प्रार्थना हो जायँ और भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का स्नेहिल, सुधा-सान्निध्य प्राप्त कर सकें। जय श्रीरामकृष्ण ! □

'व्यक्ति की उपासना मत करो' यह कहना तो बहुत आसान है, पर साधारणतः जो मनुष्य ऐसा कहता है, वही व्यक्तित्व की अत्याधिक उपासना करनेवाला देखा जाता है। विशेष-विशेष पुरूषों और स्त्रियों के प्रति उसकी अत्यधिक आसक्ति रहा करती है। उन लोगों की मृत्यु के पश्चात् भी वह आसक्ति नहीं जाती और मृत्यु के उपरान्त भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यह मूर्तिपूजा है, मूर्तिपूजा का आदि कारण अथवा बीज है, और कारण का अस्तित्व रहते हुए वह किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट होगा। क्या किसी साधारण पुरूष या स्त्री के प्रति आसक्ति रखने की अपेक्षा ईसा या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ नहीं है ? पाश्चात्य लोग कहते हैं, 'ईसा की मूर्ति के सामने घुटने टेकना बुरी बात है,' पर वे लोग किसी स्त्री के सामने घुटने टेककर 'तुम्हीं मेरी प्राण हो, मेरी जीवन की ज्योति हो, मेरी आँखों का प्रकाश हो, मेरी आत्मा हो, आदि आदि कहने में दोष नहीं मानते ! यह तो और भी बुरी मूर्तिपूजा है। उस स्त्री को 'मेरी आत्मा,' 'मेरे प्राण' कहना भी क्या है ? चार दिनों ने बाद ये सब भाव काफूर हो जाते हैं। यह केवल इन्द्रियों की आसक्ति है, फूलों के ढेर से ढका हुआ यह स्वार्थ का प्रेम है, या उससे भी गया-बीता कुछ और है। कवि लोग इसका सुन्दर नामकरण कर देते हैं और उस पर गुलाब-जल छिड़क देते हैं। क्या इसकी अपेक्षा बुद्ध की प्रतिमा या जिनेन्द्र की मूर्ति के सामने घुटने टेककर यह कहना कि' तुम्हीं मेरे प्राण हो,' श्रेष्ठ नहीं है ? मैं तो ऐसा ही करना अधिक पसन्द करूँगा।

—स्वामी विवेकानन्द
विवेकानन्द साहित्य
नवम खंड, पृष्ठ-४६

धर्मस्थापक श्रीरामकृष्ण

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी ।

एक बार बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार, श्रीरामकृष्ण के गृही भक्त श्री गिरीशचंद्र घोष ने स्वामी विवेकानन्द से श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखने को कहा। इस प्रस्ताव को सुनकर स्वामीजी चौंक उठे तथा अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहने लगे कि श्रीरामकृष्ण इतने महान थे कि वे उनको कुछ भी समझ नहीं सके हैं, तथा कहीं ऐसा न हो कि शिव की मूर्ति गढ़ने के प्रयास में बन्दर की आकृति बन जाये। पर सत्य तो यह है कि श्रीरामकृष्ण को स्वामीजी ने जितना समझा, है उतना और किसी ने नहीं। भले ही अपने व्याख्यानों, वार्तालापों तथा लेखों में स्वामी जी ने श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम कहा हो, पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सत्यों तथा आदर्शों का ही प्रचार किया है। वे स्वयं कहते हैं, "यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है, तो वह उन्हीं का, केवल उन्हीं का है।" इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की कुछ स्तुतियाँ एवं स्तवों की रचना की हैं, जो उनके प्रति स्वामीजी की गंभीर श्रद्धा एवं भक्ति के द्योतक होने के साथ ही श्रीरामकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करते हैं। श्रीरामकृष्ण का प्रणाम-मंत्र भी इसी प्रकार की एक महत्वपूर्ण ऋचात्मक रचना है।

एक बार श्रीरामकृष्ण के एक भक्त के भवन में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति-प्रतिष्ठा करते समय स्वामी विवेकानन्द के मुख से निम्न श्लोक, सहज ही फूट पड़ा।

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे ।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ॥

इसी श्लोक का प्रतिदिन विश्व के असंख्य नर-नारियों के द्वारा श्रीरामकृष्ण के प्रणाम-मंत्र के रूप में पारायण किया जाता है। श्रीरामकृष्ण-भावगंगा के भगीरथ, सिद्ध महापुरुष, मंत्र द्रष्टा ऋषि, स्वामी विवेकानन्द द्वारा अन्तःप्रेरणा के एक शुभ क्षण में रचित इस महामंत्र का विशेष महत्व है। श्लोक के प्रथम पाद में श्रीरामकृष्ण को 'धर्म-संस्थापक' कहा गया है। प्रस्तुत लेख इसी का अर्थ समझने का एक विनम्र प्रयास है।

धारणात् धर्मः

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' होता है। महाभारत में धर्म की परिभाषा निम्न प्रकार से की गयी है,

'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥"

(महाभारत, कर्णपर्व, ६९, ५९)

अर्थात् "धारणा के कारण धर्म शब्द बना है। धर्म प्रजा का धारण करता है। जो धारण में समर्थ है, वह निश्चित रूप से धर्म है।" इस परिभाषा के अनुसार जो वस्तु, तत्व या शक्ति व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र को घात-प्रतिघातों तथा विपरीत परिस्थितियों द्वारा विघटित अथवा नष्ट होने से बचावे, वह धर्म है। ईश्वर में विश्वास ऐसा ही एक तत्व है। आन्तरिक एवं बाह्य विपदाओं से, आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक संतापों से मानव की रक्षा करने में समर्थ एक सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास मानव को सुरक्षा एवं स्थिरता प्रदान करता है। इसीलिए विश्व के सभी महान

धर्म ईश्वर, देवपुरुष, पैगम्बर या अवतार तथा धर्मग्रन्थ इनमें से एक या अनेक में विश्वास पर आधारित हैं।

धर्मग्लानि के इस आधुनिक युग में विज्ञान ने श्रद्धा एवं विश्वास पर आधारित इन धर्मों को जबरदस्त चुनौती दी है। विज्ञान किसी भी बात को बिना प्रमाण के स्वीकार नहीं करना चाहता। वह युक्ति एवं प्रयोग की कसौटी पर धर्मों के मूल सिद्धान्तों को कसना चाहता है। यही कारण है कि आज के संशयवादी वैज्ञानिक युग में धार्मिक विश्वासों की नींव हिल गयी है। ऐसे विषम समय में श्रीरामकृष्ण ने स्वयं के जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ईश्वर की सत्यता प्रमाणित कर धर्म को पुनर्स्थापित किया है। एक सत्यानुसन्धानी वैज्ञानिक की तरह उन्होंने ईश्वर के विषय में प्रश्न किया था, "जिस देवी मूर्ति की मैं उपासना करता हूँ, क्या वह प्रस्तर-निर्मित, एक मृण्मय मूर्ति ही है या इसके पीछे कोई चैतन्य सत्ता भी है? माँ जगदम्बा ने कमलाकान्त एवं रामप्रसाद जैसे साधकों को दर्शन दिये हैं, वह मुझे दर्शन क्यों नहीं देतीं?" तदनन्तर तीव्र व्याकुलता तथा एकान्त निष्ठा द्वारा उन्होंने ईश्वर के नाना रूपों में दर्शन प्राप्त कर ईश्वर की सत्यता को सिद्ध किया।

आज का युग विघटन का युग है। आज सर्वत्र ध्वंस के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से, एक जाति दूसरी जाति से, एक वर्ग दूसरे वर्ग से लड़ रहा है। वाहन, भवन, देह जैसी भौतिक वस्तुओं से लेकर आस्था, विश्वास एवं मानव-हृदय के कोमलतम भाव काल-चक्र में पड़कर टूट रहे हैं। ऐसे अवसर पर युगावतार श्रीरामकृष्ण के लिए आवश्यक था कि वे आधुनिक मानव के मन में अतीन्द्रिय सत्य के प्रति विश्वास की पुनर्स्थापना करें। उन्होंने किसी भी पुरातन सिद्धान्त का खंडन नहीं किया। माँ सारदा का कथन है कि श्रीरामकृष्ण छींक एवं छिपकली जैसे अन्ध-विश्वासों को भी मानते थे। प्रत्येक प्रचलित अंध-विश्वास के पीछे कोई-न-कोई सत्य निहित रहता है। यदि श्रीरामकृष्ण, एक अन्ध-विश्वास तोड़ते तो उन्हें आदर्श मानकर उनका अनुसरण करने वाला भावी पीढ़ियाँ सैकड़ों सच्चे एवं हितकर विश्वासों का खंडन करेंगी। श्रीरामकृष्ण के असंगत प्रतीत होने वाले कार्यों के पीछे यही रहस्य छिपा है।

शास्त्रों में विश्वास की पुनर्प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण का निरक्षर होना तथ्यपूर्ण है। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, लेकिन उनका समग्र जीवन तथा उनकी अनुभूतियाँ शास्त्रोक्त सिद्धांतों के अनुरूप ही थीं। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने यह सिद्ध किया कि शास्त्र अनुभूति-संपन्न, मंत्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष किये गये सत्यों के ही संकलन हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इस विषय में कहा है, "सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र संस्कार रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार से शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनः स्थापन और पुनः प्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।"

अन्तर्निहित ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति—

उपर्युक्त परिभाषा के अतिरिक्त धर्म की और भी परिभाषाएँ हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म अनुभूति में निहित है। वे कहते हैं, "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्तः प्रकृति का नियमन करके आत्मा के इस ब्रह्म-भाव को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम तथा ज्ञान, इनमें से एक, अनेक या सभी उपायों से अपने ब्रह्म-भाव को अभिव्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। यही धर्म का सर्वस्व है।…"

श्रीरामकृष्ण ने अपने अभूतपूर्व जीवन द्वारा धर्म की इस परिभाषा को प्रमाणित किया है। वस्तुतः धर्म की उपर्युक्त परिभाषा स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण के सर्वांग-संपूर्ण जीवन को देखकर ही प्रस्तुत की थी।

वेदान्त-साधना के द्वारा श्रीरामकृष्ण ने ब्रह्मात्मैक्य-बोध किया था तथा वे छः माह तक इसी ब्रह्म भाव में, निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित रहे थे, जो धर्म के इतिहास में अप्रतिम है। इसके बाद भी वे भावमुख कहलानेवाली द्वैत और अद्वैत की अत्युच्च सीमाभूमि में निरंतर अवस्थान करते थे।

मन, बुद्धि एवं अहंकार अन्तःकरण कहलाते हैं। श्रीरामकृष्ण का इन पर एवं इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण था। काम, क्रोध, लोभ आदि पर तो उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त की ही थी, वे इच्छानुसार अपने मन को किसी भी विषय पर एकाग्र कर समाधिस्थ हो सकते थे। उनका मन उनकी इच्छा-शक्ति के हाथों मिट्टी के एक लोंदे के समान था जिसे किसी भी स्थान पर अनायास ही चिपकाया अथवा वहाँ से हटाया जा सके। चित्त-वृत्त-निरोध-रूप योग का चरम लक्ष्य समाधि श्रीरामकृष्ण के मन की सहज अवस्था थी।

श्रीरामकृष्ण ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर इन सभी भावों से भगवान के साथ सम्बन्ध स्थापित किया था, जैसा कि भक्ति-शास्त्रों में निर्देश है। उन्होंने भक्तियोग की अनुभूतियाँ, यथा, भाव-समाधि, महाभाव, प्रेम आदि की उपलब्धि की थी और ये उनके लिए स्वाभाविक हो गयी थीं।

श्रीरामकृष्ण का समग्र जीवन कर्ममय था। पहले वे बारह वर्षों तक कठोर साधना में निरत रहे। साधना में सिद्धि-लाभ करने के बाद वे धर्म-संस्थापन एवं जगत् कल्याण के लिए अक्लान्त परिश्रम करते रहे। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के जीवन में ज्ञान-भक्ति, मनःसंयम एवं कर्म—इन चारों योग मार्गों का पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। उन्होंने अपनी साधना द्वारा इन चारों मार्गों को पुनर्जीवित किया। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द उनकी वन्दना करते हुए कहते हैं :—

"अद्वयतत्व-समाहितचित्तं, प्रोज्वलभक्ति पटावृत वृत्तम्।
कर्मकलेवरमद्भुतचेष्टं, यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्॥"

अर्थात् "अद्वैत-तत्त्व में समाहित जिनका चित्त उज्ज्वल भक्ति रूपी वस्त्र से आवृत है, तथा जिनकी कर्ममय देह ने अद्भुत क्रियाएँ की हैं, ऐसे भवरोग-वैद्य श्रीगुरु की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।"

प्रवृत्ति धर्म एवं निवृत्ति धर्म—

मीमांसा दर्शन के अनुसार वेदोक्त विधि-निषेध ही धर्म है। **"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।"** उत्तर मीमांसा में केवल कर्मकाण्ड परक निर्देशों को धर्म माना गया है, किन्तु शंकराचार्य प्रवृत्ति धर्म एवं निवृत्ति धर्म, ऐसे दो प्रकार के धर्म मानते हैं। **"प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मः। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च।"** जिन वैदिक विधि-निषेधों का पालन करने से अभ्युदय अर्थात् जागतिक समृद्धि तथा निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो, वह धर्म है।

यह तो विदित ही है कि श्रीरामकृष्ण का जीवन निवृत्ति मार्ग तथा निःश्रेयस के पथ का जीता-जागता दिग्दर्शक है। उनके उपदेशों का संकलन, 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' आधुनिक वेद है, जिसमें मोक्ष, ईश्वर दर्शन, संन्यासी तथा गृहस्थ के नियम आदि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इसके साथ ही श्रीरामकृष्ण ने दरिद्र, पीड़ित, अभावग्रस्त लोगों की सांसारिक उन्नति एवं समृद्धि की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। वे कहा करते थे, 'भूखे पेट धर्म नहीं होता।' तीर्थयात्रा पर जाते समय मार्ग में देवघर में दरिद्र लोगों को देख उन्होंने अपने रसददार मथुरानाथ विश्वास से उनके अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करवाई थी। 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' का उच्चतम आदर्श एवं युगधर्म का सिद्धान्त श्रीरामकृष्ण की ही देन है, जिसमें उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वय कर दिया है। उन्हीं की प्रेरणा से स्वामी विवेकानन्द ने दरिद्र, अज्ञानी, पीड़ित लोगों के कल्याण एवं भौतिक समृद्धि के लिए विभिन्न कार्यों का सूत्रपात किया।

नैतिक आदर्शों का उच्चतम विकास—

शास्त्रों में नैतिक आदर्शों को धर्म कहा गया है, जैसे, 'अहिंसा परमो धर्मः।' इस परिभाषा के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति, सभी अवस्थाओं में, द्वेष का त्याग-रूप अहिंसा सर्वोच्च धर्म है। सभी प्राणी मेरे आत्मस्वरूप ही हैं, यह जानकर योगी किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता। तात्पर्य यह कि जब व्यक्ति ब्रह्मा से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त सभी प्राणियों में अपनी आत्मा का अनुभव कर छोटे-से-छोटे जीव को भी हानि पहुँचाने से स्वभावतः निवृत हो जाता है तब वह अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रीरामकृष्ण ने अहिंसा की विधिवत् साधना न की हो, पर सर्वात्मा के भाव में उनकी स्वाभाविक अवस्थिति थी। एक अवस्था ऐसी आयी थी, जब दूब के साथ एकात्मबोध के कारण दूब पर चल रहे व्यक्ति के पैरों के चिन्ह उनके सीने पर अंकित हो गये थे, तथा दूब पर पैर न पड़ जाये इस भय से वे कूद-कूद कर दूब रहित स्थान में पैर रखते हुए चलते थे।

एक अन्य शास्त्रोक्ति में सत्य को परम धर्म कहा है। 'सत्यात् नास्ति परो धर्मः।' श्रीरामकृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित थे। माँ जगदम्बा को वे अपना सर्वस्व समर्पित कर चुके थे। किन्तु, वे सत्य को समर्पित न कर सके थे। अनजाने में भी यदि कोई बात उनके मुँह से निकल जाती थी, तो वे उसका पालन करते थे। अपने वादे के विरुद्ध कार्य करना उनके लिए संभव नहीं था। यदि गलती से वे अपने कथन के विपरीत कार्य करने में प्रवृत होते तो उनकी इन्द्रियाँ ही कार्य नहीं करती थीं। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त उनकी जीवनी में पाये जाते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि धर्म को हम धारण करने वाले तत्त्व, अनुभूति, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति अथवा नैतिक आदर्श, किसी भी रूप में क्यों न लें, श्रीरामकृष्ण उसके प्रतिष्ठाता, पुनर्जीवित-कर्ता हैं। लेकिन उपर्युक्त व्याख्या से यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन को धर्म की किसी परिभाषा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया था। वस्तुतः वे तो धर्म के जीते जागते, घनीभूत विग्रह थे। उन्होंने जो किया वही धर्म था, एवं उन्होंने ही वेदों की सत्यता को सिद्ध किया है। अवतारी महापुरुषों का जीवन एवं उपदेश ही शास्त्रों का निर्माण करते हैं, जैसा कि महाभारत में कहा गया है, **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।"** ◘

आधुनिक संसार के लिए श्री रामकृष्ण का सन्देश यही है—'मतवादों, आचारों, पंथों तथा गिरजाघरों एवं मन्दिरों की चिंता न करो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो सार वस्तु अर्थात् आत्म-तत्व विद्यमान है, इसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं, और मनुष्य के अन्दर यह भाव जितना ही अधिक अभिव्यक्त होता है, वह उतना ही जगत्कल्याण के लिए सामर्थ्यवान हो जाता है। प्रथम इसी धर्म-धन का उपार्जन करो, किसी में दोष मत ढूँढ़ो, क्योंकि सभी मत, सभी पथ अच्छे हैं। अपने जीवन द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और न सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति। जिन्हें अनुभव हुआ है, वे ही इसे समझ सकते हैं। जिन्होंने धर्मलाभ कर लिया है, वे ही दूसरों में धर्मभाव संचारित कर सकते हैं, वे ही मनुष्य जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं—केवल वे ही ज्योति की शक्ति हैं।'

—स्वामी विवेकानन्द
विवेकानन्द साहित्य
सप्तम खंड पृष्ठ-२६७

स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ

—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

११ सितम्बर, १८९३ ई० का दिन विश्व-इतिहास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन है। इसी दिन स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका के शिकागो धर्म महासभा में अपना प्रसिद्ध व्याख्यान देकर भारतीय धर्म व संस्कृति की श्रेष्ठता की कीर्तिपताका सारे विश्व में फैला दी थी। परवर्ती ३-४ वर्षों तक वे अमेरिका तथा यूरोप में विज्ञान व युक्तिसम्मत वेदान्त-धर्म का प्रचार करते रहे। इधर भारतीय जनता उनका स्वागत व संवर्धना करने को अत्यंत आकुल हो रही थी। पाश्चात्य जगत् में अपने प्रचार-कार्य की नींव सुदृढ़ कर लेने के पश्चात् स्वामीजी लंदन से भारत की ओर चल पड़े। १५ जनवरी १८९७ ई० को उन्होंने कोलम्बो में भारत भूमि पर प्रथम पदार्पण किया। भारतवर्ष के विभिन्न भागों से प्राप्त आमंत्रणों को स्वीकार कर उन्होंने कोलम्बो से अल्मोड़ा की यात्रा की। सर्वत्र उनका भव्य स्वागत हुआ और अभिनन्दन-पत्र भेंट किये गये। उत्तर में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों के द्वारा भारतीय जनता से उपनिषदों के शक्तिदायी विचारों को व्यावहारिक जीवन में अपनाने की अपील की तथा भारतवर्ष के पुनर्निर्माणार्थ अपनी कार्यप्रणाली का संकेत दिया।

५ नवम्बर, १८९७ ई० को स्वामीजी का लाहौर में आगमन हुआ। तीरथराम गोस्वामी वहीं पर मिशन कालेज में गणित के प्राध्यापक थे। चार वर्ष पूर्व बी० ए० की परीक्षा में उन्होंने पूरे प्रान्त में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। २३ वर्ष के इस युवक की धर्म की ओर काफी रुझान थी और वे सनातन धर्म महासभा के क्रियाकलापों में सक्रिय भाग लिया करते थे। लाहौर स्टेशन पर इसी सनातन महासभा के सदस्यों ने उनका भव्य स्वागत किया, संभवतः प्रो० तीरथराम भी इनमें एक थे। उनके ठहरने की व्यवस्था राजा ध्यानसिंह की हवेली में की गयी थी। उन दिनों स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था और वे चिकित्सक के निर्देशानुसार संतुलित आहार लिया करते थे। स्वामीजी के साथ तीन अन्य संन्यासी और उनके तीन अंग्रेज शिष्य भी थे। इनमें एक अंग्रेज शिष्य मि० गुडविन आशुलिपिक थे और वे स्वामीजी के सभी व्याख्यानों का प्रतिलेखन 'ब्रह्मवादिन' व अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भेजा करते थे।

लाहौर में स्वामीजी ने कुल तीन व्याख्यान दिये थे। पहले व्याख्यान का आयोजन उक्त हवेली के प्रांगण में ही किया गया था। अत्यंत उत्साही सिख-जाति वेदांत केसरी विवेकानन्द को देखने तथा सुनने को उमड़ पड़ी थी। क्रमशः भीड़ इतनी बढ़ी कि आँगन में तिल तक रखने को जगह न रही। इतना ही नहीं, बाहर के घेरे में भी काफी लोग एकत्र हो गये थे तथा स्वामीजी की एक झलक पाने की आशा में अंदर घुसने का प्रयास कर रहे थे। लोगों का अदम्य उत्साह देख स्वामीजी ने कहा कि मैं खुली हवा में ही व्याख्यान दूँगा। हवेली के प्रांगण में ही मंदिर के आकार का एक ऊँचा चबूतरा था। स्वामीजी उसी चबूतरे पर चढ़ गये और 'हिन्दू धर्म के सामान्य आधार' पर घंटों उनकी वाग्धारा प्रवाहित होती रही। 'राम जीवनकथा' के लेखक सरदार पूरन सिंह लिखते हैं—"उस समय उनकी छवि, उत्तम स्वास्थ्य से दमकता हुआ विशालकाय शरीर, संन्यासी की रक्तवर्ण वेषभूषा...बड़ी-बड़ी मनोहर आँखें,

जिनका जादू सारी हवा में व्याप्त हो रहा था!... पंजाबी ऐसी शान्ति के साथ सुन रहे थे, जैसे जादू मार गया हो।"

उन दिनों लाहौर में प्रो० मोतीलाल बोस का सरकस चल रहा था। प्रो० बोस स्वामीजी के बाल्यबंधु और पड़ोसी रह चुके थे। स्वामीजी का द्वितीय प्रवचन इस सरकस के पांडाल में ही हुआ जिसका विषय था—'भक्ति'। स्वामीजी ने इस व्याख्यान में मूर्तिपूजा का क्रमिक इतिहास वर्णन करते हुए, पुराणों में निरूपित भक्तिमार्ग को ही सर्वसाधारण के लिए सरल पथ कहकर निर्देश किया और यह भी कहा कि दरिद्रों व मूर्खों की नारायण-भाव से सेवा करना ही मूर्तिपूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। वक्तृता की समाप्ति पर स्वामीजी जब अपने निवास को लौटने लगे तो प्रो० तीरथराम भी साथ हो लिये। रास्ते में दो-चार बातें भी हुई। तीरथराम बोले—"स्वामीजी! निःसन्देह वाग्मिता में आपकी तुलना नहीं है, पर मुझे लगता है कि इस व्याख्यान में आपकी प्रतिभा चरम सीमा तक नहीं पहुँची।" इस पर स्वामीजी ने उन्हें बताया कि उनका अगला व्याख्यान 'वेदान्त' पर होगा। यही उनका सर्वप्रिय विषय था और इसी में उनकी प्रतिभा देखते ही बनती थी।

यह तीसरा व्याख्यान हवेली प्रांगण में ही हुआ था। इस व्याख्यान के द्वारा उन्होंने समझाया कि 'वेदान्त' का तात्पर्य सिर्फ अद्वैतवाद से नहीं है, वरन् प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय चाहे वह द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी या वैष्णव, वेदान्त के प्रस्थानत्रय को ही अपना प्रमाण मानने के कारण 'वेदान्ती' शब्द 'हिन्दू' का पर्याय जैसा है। आत्मा की महिमा बतलाते हुए उन्होंने कहा कि हममें से प्रत्येक के पीछे अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, अनन्त सत्ता व अनन्त वीर्य का पूर्ण भंडार है। सत्य ही अद्वैतवाद का एकमात्र लक्ष्य है, यही एकमात्र विज्ञानसम्मत धर्म है और इसी के आधार पर नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या संभव है। अंत में उन्होंने लाहौर के नवयुवकों को अद्वैत तथा सर्वव्यापी प्रेम की पताका फहराने और मातृभूमि के लिए अपना जीवन बलिदान करने को आह्वान किया। इस व्याख्यान ने लाहौर की जनता पर व्यापक प्रभाव डाला था। १६ नवंबर १८९७ ई० को प्रो० तीरथराम अपने एक पत्र में लिखते हैं*—"उनका तीसरा व्याख्यान 'वेदान्त' पर था, जो पूरे ढाई घंटों तक चला। श्रोतागण अत्यंत तल्लीन हो गये थे तथा इससे एक ऐसे वातावरण की सृष्टि हुई कि लोग स्थान काल तक की सुधि भूल गये थे। बीच-बीच में लोगों को अपनी आत्मा तथा परमात्मा के बीच अभेदत्व की भी अनुभूति हुई। इसने लोगों के आत्म—अभिमान व अहंकार की जड़ पर प्रहार किया। संक्षेप में, यह एक ऐसी सफलता थी, जो बहुत कम देखने को मिलती हैं। श्रोतागण काफी संख्या में उपस्थित थे, और वे चाहे अंग्रेज रहे हों, या मुस्लिम, आर्यसमाजी अथवा ब्रह्मसमाजी—यह सभी के लिए आँखें खोलने वाला सिद्ध हुआ। मिशन कालेज के प्रिंसिपल तथा अन्य प्रोफेसर भी काफी लाभान्वित हुए।"

उसी पत्र में तीरथराम आगे लिखते हैं—"सार्वजनिक व्याख्यान तो हुए ही, परन्तु व्याख्यानों की तुलना में वार्तालाप के दौरान स्वामीजी का ज्ञान और भी अच्छी तरह व्यक्त होता था। मुझे उनकी आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज के नेताओं के साथ हुई व्यक्तिगत चर्चाओं को सुनने का मौका मिला। उन्होंने उनके प्रश्नों का उत्तर इतने विध्वंसक रूप से दिया तथा उनके सिद्धान्तों का ऐसा चित्रण किया कि वे लोग पूरी तौर से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर लौटे और सबसे सुंदर बात तो यह है कि उन्होंने ऐसे एक शब्द का भी उच्चारण नहीं किया जो उनकी भावनाओं को चोट

---

*Swami Vivekananda : A forgotten Chapter of his life पृ० २३०-२।

पहुँचाता। अति अल्प अवधि में ही उन्होंने उन लोगों से उनके सिद्धान्तों की आधारहीनता मनवा ली। आर्य समाज को काफी धक्का लगा। स्वामीजी ने जनसभा में पुराणों, श्राद्ध तथा मूर्तिपूजा का अनुमोदन किया था। स्वामीजी एक अच्छे पण्डित भी हैं। उन्हें बहुत सी श्रुतियाँ कण्ठस्थ हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य, श्री भाष्य तथा माध्व भाष्य का अध्ययन किया है। सांख्य और योग पर उन्हें अधिकार प्राप्त है तथा भगवत्-गीता के तो वे महान् व्याख्याता हैं। फिर वे गाते भी काफी मधुर हैं···। पूरा नगर स्वामीजी के आगमन से कृतार्थ हो गया है। स्वामीजी की मेरे प्रति काफी कृपा तथा स्नेह है।"

एक दिन प्राध्यापक तीरथराम ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे अपने शिष्य के साथ उनके घर पर भोजनार्थ पधारें। स्वामीजी ने इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया और प्रो० तीरथराम ने अत्यंत श्रद्धापूर्वक उनका सत्कार किया। भोजन के उपरांत स्वामीजी ने अपनी मधुर स्वरलहरी में एक भजन गाना प्रारम्भ किया— "जहाँ राम तहँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम।" उपस्थित लोगों का हृदय संगीत के भाव से परिपूर्ण हो उठा। प्रोफेसर ने स्वामीजी के लिए अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय खोला। असंख्य ग्रंथों के बीच से स्वामीजी ने वाल्ट ह्विटमैन लिखित Leaves of Grass नामक पुस्तक पढ़ने के लिए चुनी। उनके बीच वेदांत-प्रचार की कार्यपद्धति के बारे में भी चर्चा हुई। स्वामीजी ने उन्हें बतलाया कि एकमात्र उपनिषदों का अवलम्बन कर ही भारत पुनः जाग्रत हो सकता है और साथ ही यह भी बोध करा दिया कि त्याग के बिना न तो धर्मलाभ ही संभव है और न मातृभूमि की सच्ची सेवा।

एक दिन संध्या के समय स्वामीजी, उनके गुरुभ्रातागण, रामतीर्थ तथा कुछ अन्य नवयुवक एक साथ किसी प्रमुख मार्ग पर टहल रहे थे। धीरे-धीरे वे लोग छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट गये। स्वामी रामतीर्थ दार्जिलिंग से एक पत्र में लिखते हैं*—"सबसे पीछे वाले दल में एक प्रश्न के उत्तर में मैं कह रहा था कि एक आदर्श महात्मा उसे कहते हैं जो अपना अलग व्यक्तित्व खोकर सबके अंदर व्याप्त आत्मा के रूप में निवास करता है। जब किसी क्षेत्र विशेष में धूप बहुत कड़ी पड़ती है तो वहाँ की हवा गर्म होकर हल्की हो ऊपर उठने लगती है। इसके फलस्वरूप वायुमंडल की सारी हवा गतिशील हो उठती है और चारों ओर से हवाएँ आकर उस खाली स्थान को पूर्ण करने लगती हैं। इसी प्रकार एक महात्मा अपनी आत्मिक उन्नति के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में अद्भुत सुधार ला देते हैं। संयोगवश स्वामीजी का दल उस समय चुप था और दूर से उन्होंने हमारी बातचीत का यह अंश सुन लिया था। अचानक सड़क के बीच में खड़े होकर वे दृढ़तापूर्वक बोल उठे—'मेरे गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस ऐसे ही थे।"

स्वामीजी के साथ आनन्द के दस दिन बीत गये। तीरथराम उनके हार्दिक प्रेम से पूर्णतया अभिभूत हो चुके थे। विदा की वेला आयी। भावविभोर प्राध्यापक ने अपनी अत्यंत प्रिय सोने की घड़ी स्मृतिचिह्न के रूप में स्वामीजी को भेंट की। स्वामीजी ने युवक का उपहार सहर्ष स्वीकार कर लिया। परन्तु आश्चर्य! दूसरे ही क्षण उनकी घड़ी को उन्हीं की जेब में वापस रखते हुए बोले- "अच्छा मित्र! इस घड़ी का उपयोग मैं इस जेब में ही रखकर किया करूँगा," और मुस्कराते हुए तीरथराम की ओर देखा। अद्वैत वेदान्त की इस व्यावहारिक व्याख्या पर मुग्ध होकर प्राध्यापक दाँतों तले ऊँगली दबा कर रह गये।

* * *

"क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका। भवति भवार्णव तरणे नौका।" सत्पुरुषों का क्षण भर का संग भी भवसागर

*The life of Swami Vivekananda by Eastern and Western disciples, 1975, Vol. III P. 199-200.

को पार करने के लिये नाव का काम देता है। स्वामी विवेकानन्द लाहौर त्यागकर चल पड़े, परन्तु छोड़ गये युवा प्राध्यापक के हृदय में वैराग्य व मुमुक्षुत्व की एक छोटी चिनगारी। ३-४ वर्ष की अवधि में इस चिनगारी ने धधकती ज्वाला का रूप धारण कर लिया। सन् १९०० ई० की जुलाई में, २७ वर्ष की अवस्था में प्रो० तीरथराम ने संसार त्याग दिया और तपस्या के निमित्त हिमालय की गहन उपत्यकाओं की ओर चल पड़े। यहाँ पर वे एकान्त साधना करते हुए कालयापन करने लगे। आगामी वर्ष उन्होंने ज्वाल्यमान अग्नि का प्रतीक, संन्यासी का वेष गैरिक वस्त्र भी धारण कर लिया और इस प्रकार तीरथराम गोस्वामी स्वामी रामतीर्थ बन गये।

१९०१ ई० के आखिरी दिनों में जापान से बौद्ध-धर्म के दो बड़े विद्वान भारत पधारे। उनमें एक थे एक बौद्ध मठ के अध्यक्ष रेवरेंड ओडा और दूसरे थे प्रसिद्ध दार्शनिक व शिल्पी डा० ओकाकुरा। इन विद्वानों ने शिकागो धर्म महासभा जैसा ही जापान में भी एक विशाल सर्व-धर्म-सम्मेलन करने की योजना बनायी थी और इसी सिलसिले में उनका भारत आगमन भी हुआ था। वे स्वामी विवेकानन्दजी से साक्षात्कार होने पर बोले—"जापान में इस समय धर्म को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता आ पड़ी है और इस महान् कार्य का सम्पादन करने में आपके अतिरिक्त दूसरा कौन सक्षम है?" जापानी मित्रों की बात सुनकर स्वामीजी अत्यंत हर्षित हुए और यथासंभव सहयोग देने का आश्वासन दिया। अपने बिगड़े स्वास्थ्य के बावजूद वे धर्मभाव स्थापनार्थ जापान जाने को प्रस्तुत थे। परन्तु उनका पुनः जापान जाना न हो सका और इस घटना के लगभग ६ महीनों बाद ही उन्होंने महासमाधि ले ली।

दूसरी ओर स्वामी रामतीर्थ अद्वैत चिन्तन में मस्त हो हिमालय के टिहरी राज्य में एकान्त विचरण कर रहे थे। टिहरी के महाराजा उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व स्नेह के साथ अनुरक्त थे। एकदिन उन्होंने समाचार-पत्र में पढ़ा कि जापान में एक विशाल धर्म-सम्मेलन होने वाला है और अविलम्ब वे वहाँ जाने का प्रस्ताव लेकर स्वामी रामतीर्थ के पास पहुँचे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि स्वामीजी इस सम्मेलन में हिन्दू- धर्म का प्रतिनिधित्व करें। उन्होंने कहा कि यदि आप तुरंत रवाना हो जायँ तो सम्मेलन के लिए निर्धारित तिथि तक टोकियो पहुँच सकते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने अपनी स्वीकृति प्रदान की और एक सप्ताह के अंदर ही वे जापान के लिये प्रस्थान कर चुके थे।

जापान पहुँचकर स्वामी रामतीर्थ यह जानकर विस्मित रह गये कि सम्मेलन की योजना रद्द की जा चुकी है। उन्होंने वहाँ पर स्वाधीन भाव से वेदान्त-प्रचार करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से वे अमेरिका भी गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द लाहौर में अपने द्वारा अनुप्राणित युवा प्राध्यापक तीरथराम से स्वामी रामतीर्थ के रूप में नहीं मिल सके, परन्तु उनके संदेशों की गूँज स्वामी रामतीर्थ के सम्पूर्ण व्याख्यानों व प्रबंधों में सुनायी पड़ती है। स्वामी रामतीर्थ ने विवेकानन्दजी के अनेक भावों को आत्मसात कर उनका प्रचार भी किया, इसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं। परन्तु विस्तार के भय से हम अपनी लेखनी को यहीं विराम देते हैं।

चलो मन रामकृष्ण की ओर

—डॉ० (श्रीमती) वीणा कर्ण
मैथिली विभागाध्यक्ष,
मगध महिला कॉलेज, पटना

[विवेक शिखा : मार्च, १९८४ अंक के संपादकीय सम्बोधन से प्रेरित कविता ।]

चलो मन, रामकृष्ण की ओर !
उत्तानपाद की संस्कृति से
तुम मुक्त करो अपने को;
जला विवेक शिखा, जगने दो
जन-हित के सपने को।
देह-बोध को त्याग, चलो
तुम आत्म-बोध की ओर।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

युवक देश के, एक सूत्र में
बँधकर आगे आओ;
मानवता की रक्षा के हित
आगे पैर बढ़ाओ
है तन्द्रा आलस्य भरा—
यदि मन, तो दो झकझोर।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

एकानेक समस्याओं से
आज घिरा है देश,
कथनी-करनी एक नहीं
सब देते हैं उपदेश
परमहंस के पथ पर चल
सब बन्धन दोगे तोड़।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

जात-पात का, ऊँच-नीच का
भेद-भाव है छाया;
रामकृष्ण ने परम प्रेम से
सबको गले लगाया
'दया नहीं, सेवा'—का व्रत ले
नव तप करो अथोर।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

रामकृष्ण का पावन-जीवन
देता है यह शिक्षा;
रहो विमुक्त काम-कांचन से
भर लो त्याग तितिक्षा
विश्व-विपिन में नाचो बनकर
प्रीति-नीति का मोर।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

रामकृष्ण के आदर्शों को
जीवन में अपनाओ;
आंगन में शुभ चिन्तन के तुम
सौ-सौ दीप जलाओ
उस मंगल आलोक-लोक में
हो यह विश्व विभोर।
चलो मन रामकृष्ण की ओर !

दैवी स्वरूप की अभिव्यक्ति

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

योग्यतम की उत्तर-जीविता (Survival of the fittest) प्रकृति का नियम है। वनस्पति-जगत् तथा प्राणि-जगत् के निरीक्षण से यह बात सिद्ध की जा सकती है। लेकिन मनुष्य के पास एक विचारशील बुद्धि भी है जिसका सदुपयोग अपेक्षित है। योग्यतम की उत्तरजीविता के नियम को मानव के दैवी तथा आसुरी स्वभावों पर लागू किया जाना चाहिए। बुद्धि का उपयोग आसुरी प्रवृत्ति के दमन तथा दैवी प्रकृति के विकास में किया जाना चाहिए। इस तरह मानव जन्म सार्थक हो जाता है।

अपने निम्न-स्वभाव पर कैसे विजय प्राप्त करें? ध्यान करते समय कभी तो मन एकदम शान्त रहता है, पर कभी वह चंचल और नियंत्रण के बाहर हो जाता है। जप के द्वारा मन बहुत हदतक शान्त किया जा सकता है। मन को शान्त करने के पूर्व चित्त-शुद्धि आवश्यक है। इसके लिये मन,वचन और कर्म तीनों का एक होना अनिवार्य है। यही सत्य का सार है। चित्त की शान्ति व आध्यात्मिक विकास के लिए सत्य का पालन आवश्यक है। उद्देश्य के प्रति सच्ची लगन होनी चाहिए।

अपने पापों का चिन्तन करने तथा इसी तरह भूतकाल में जीने का कुछ लोगों का स्वभाव होता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। पाप वस्तुतः हमारी पुरानी गलतियाँ है। इनके चिन्तन से मन दुर्बल होता है। पाप केवल मानव की दृष्टि में हैं, भगवान की दृष्टि में नहीं। प्रभु का एक कृपा-कटाक्ष पूर्वजन्मों के सभी पापों को धो डालेगा।

यह विश्वास रखो कि तुम आत्मा हो। जब तक देहात्म बोध है, तभी तक पाप है। लेकिन आत्मा तो नित्य-शुद्ध है।

सदा परमात्मा के साथ मन को संयुक्त रखने से मन की सभी सांसारिक प्रवृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। जितना अधिक परमात्मा का चिन्तन होगा, उतने ही कम सांसारिक विचार उठेंगे। जितना ही भगवच्चिन्तन होगा, हमारा जीवन उतना ही सार्थक होगा। सांसारिक विषय-वासना कभी मानसिक शान्ति प्रदान नहीं कर सकती। एक वासना के पूर्ण होने पर मन क्षण भर के लिये शान्त हो जाता है, पर दूसरे ही क्षण वह दूसरा विषय चाहने लगता हैं। इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। अतः सदा भगवत्-स्मरण बनाये रखना चाहिए और निश्चित समय व स्थान पर ध्यान व जप करना चाहिए। भगवदाराधना के बिना शान्ति नहीं मिल सकती। प्रतिदिन प्रभु का गुण-गान करना चाहिए।

साधना में लगे रहने पर श्रद्धा, भक्ति, और ज्ञान का उदय होगा। साधना में नियमितता आवश्यक है। जिन लोगों में प्रभु के प्रति सच्चा लगाव नहीं होता, उनके लिए साधन-पथ को अन्ततक पकड़े रहना कठिन होता है। भगवत्-भक्ति के बिना मन चंचल रहता है। यही मानव की स्वाभाविक स्थिति है। मन के इस

चांचल्य को सांसारिक विषयों के विपरीत, प्रभु की ओर मोड़ देना चाहिए। वैराग्याग्नि के बिना भगवच्चिन्तन प्रज्वलित करना कठिन है। श्री रामकृष्ण विवेक और त्याग—नित्यानित्य विवेक तथा अनित्य वस्तुओं का त्याग—की आवश्यकता पर बहुत बल देते थे। वे स्वयं त्याग और विवेक के विग्रह स्वरूप हैं।

साधनाओं को क्रम से एक के बाद एक, गुरु के निर्देशानुसार करना चाहिए, अन्यथा परिणाम भयानक होंगे। यम-नियमादि नैतिक गुणों में प्रतिष्ठित हुए बिना यदि कोई योगाभ्यास करे और एक ही दिन में योगी बनने का प्रयत्न करे तो या तो वह मानसिक सन्तुलन खो बैठेगा या रोगग्रस्त हो जायेगा।

हम उन नमक के पुतलों के समान हैं जो सागर की गहराई नापने जाते हैं। कुछ लोगों की शिकायत है कि उनका मन लंबे समय के अभ्यास के बाद भी साधना में डूब नहीं पाता। यह इसलिए होता है कि मन में अभी भी बहुत सी (आसक्ति रूपी) रेत भरी पड़ी है, जो पानी में घुल नहीं पाती। हमें अपने में नमक का अनुपात बढ़ाना चाहिए जिससे हम पानी में गल सकें।

सभी परिस्थितियों में नियमित रूप से साधना की जानी चाहिए। ध्यान के समय यह सोचो कि शरीर व मन शुद्ध और दिव्य हैं तथा स्वयं को इष्ट के दिव्य रूप में विलीन करने का प्रयत्न करो। इष्ट परमात्मा का, सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य का एक घनीभूत रूप है। गहरे ध्यान में भक्त और इष्ट दोनों सर्वव्यापी सच्चिदानन्द परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

सदा सजग रहो और अपने दोषों को जानने और दूर करने का प्रयत्न करो। अपने मन के निष्पक्ष निरीक्षक बनो। यदि मन अपने दोषों को छुपाने के लिये बहाने बनाये तो उसे छूट मत दो और उसके साथ कठोरता से पेश आओ। वह प्रायः यह तर्क देगा कि परिस्थितियाँ ध्यान के लिये उपयुक्त नहीं हैं। साधना प्रारंभ करने के लिए अच्छी परिस्थितियों की प्रतीक्षा नहीं करना चाहिए। संसार में प्रतिक्षण समस्याएँ बनी ही रहेंगी। उस व्यक्ति की तरह मूर्ख मत बनो जो समुद्र में स्नान करने के लिए लहरों के शान्त होने की प्रतीक्षा करता रहा। लहरें न कभी शान्त होंगी और न कभी उसे स्नान का अवसर ही मिलेगा। इसके बदले उसे सीना तान कर उठती हुई लहरों का सामना करना चाहिए तथा अटल खड़े होकर स्नान करना चाहिए। इसी तरह जीवन में उठ रही समस्याओं का सामना करते हुए नियमित साधना करते जाना चाहिए। तब सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

***

हम यह निश्चित जानते हैं हम एक न एक दिन अवश्य मरेंगे और जब ऐसा है तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरें! हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यों को जैसे खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना आदि सभी—आत्मत्याग की ओर लगा दें। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या लाभ हुआ, यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं, यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को लगा कर आत्म-त्याग न किया। चूंकि सारा संसार एक है और तुम इसके एक अत्यन्त आकिंचन अंश हो, इसीलिए केवल इस तुच्छ स्वयं के अभ्युदयार्थ यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोड़ों भाइयों की सेवा करते रहो।

—स्वामी विवेकानन्द
विवेकानन्द साहित्य : पंचम खण्ड : पृष्ठ-३३६

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

चतुर्थ अनुवाक

परा भक्ति का महत्व

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्यऽप्योधिकतरा ॥२५॥

सा (पराभक्ति) तु (किन्तु) कर्मज्ञानयोगेभ्यः (कर्म, ज्ञान एवं योग से) अपि अधिकतरा (श्रेष्ठा) ॥२५

यह पराभक्ति कर्म-ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठ है ॥२५

पराभक्ति कर्म, ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठ है। क्यों श्रेष्ठ है, इसे आगे के सूत्र में विशेष प्रकारसे कहा गया है। एक है साधन-भक्ति और दूसरी है साध्य भक्ति। यहाँ साध्यभक्ति की बात कही गयी है। समस्त साधन पथों की साध्यवस्तु होती है परमानन्द की प्राप्ति। भक्ति होती है परमानन्द स्वरूप साध्य-वस्तु। जो प्रेम साध्यवस्तु का परिपूर्ण अनुभूति स्वरूप है उसके साथ किसी साधनपथ की तुलना हो नहीं पाती। फिर साधना की दृष्टि से भी भक्ति कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ है।

"ज्ञानयोग या कर्मयोग तथा अन्य पथों के द्वारा भी ईश्वर के समीप जाया जाता है; किन्तु भक्तिपथ के द्वारा उनके निकट सहज ही जाया जाता है। जो ब्रह्मज्ञान चाहते हैं वे यदि भक्तिपथ का अवलम्बन कर चलते हैं तो ऐसा करने पर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भक्त एक जगह जायेंगे और ज्ञानी या कर्मयोगी किसी एक अन्य जगह जायेंगे। भक्त-वत्सल इच्छा करने से ब्रह्मज्ञान दे देते हैं। ईश्वर यदि प्रसन्न हों तो वे भक्ति भी देते हैं, ज्ञान भी देते हैं।"

यहाँ साधनज्ञान के साथ शुद्धाभक्ति की तुलना हुई है। नहीं तो, "शुद्ध ज्ञान और शुद्धाभक्ति एक हैं। शुद्धज्ञान जहाँ ले जाता है शुद्धाभक्ति भी वहाँ ले जाती है।"

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराने के बाद कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११-५३-५४)

'तुमने मेरे जिस रूप का दर्शन किया है उसका वेदपाठ, तपस्या, दान या यज्ञ के द्वारा दर्शन करना संभव नहीं है। हे अर्जुन, केवल मात्र अनन्य भक्ति के द्वारा मुझे जानने, मेरे स्वरूप का प्रत्यक्षरूप से दर्शन करने एवं मुझमें अवस्थितिरूप मुक्ति का लाभ करने में भक्तगण समर्थ होते हैं।'

उद्धव से वे कहते हैं—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेन श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांछति॥
भा० ११।२०।३२-३३

'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान एवं अन्यविध श्रेयः—साधन समूहों के द्वारा जो कुछ फल पाये जाते हैं, मेरे भक्त भक्तियोग के द्वारा उन सबको

अनायास ही प्राप्त करते हैं। यदि चाहें तो स्वर्ग, मुक्ति अथवा मेरे धाम को भी प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु भक्त इन सब के अभिलाषी नहीं होते।'

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

[भक्ति स्वयं] फलरूपत्वात् (फलरूपा होने से) [अन्य सारे साधनों से श्रेष्ठ है] ॥२६

भक्ति स्वयं फलरूपा होने के कारण अन्य सभी साधनों से श्रेष्ठ है ॥ २६

आनन्द की प्राप्ति के लिए जीव नित्य दौड़-धूप करता है। इस आनन्द प्राप्ति के लिए ही सारे कर्म, सारे साधन-भजन होते हैं। किन्तु कर्म के द्वारा जिस फल का उद्भव होता है, भोग के द्वारा उस फल का अवसान हो जाता है। अहं का आश्रय लेकर जितने कर्म होते हैं वे सारे ही परिणामी और विनाशशील होते हैं।

कामिनी—कांचन का जब त्याग हो जाता है, अहं का जब नाश हो जाता है तब जीव को परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्दस्वरूप को भूल जाने के कारण ही इतने दुःख है। कर्म, ज्ञान, योग आदि इसी आनन्दस्वरूप में लौट जाने के विभिन्न उपाय मात्र हैं—वस्तुलाभ के बाद फिर इन सब की आवश्यकता नहीं रहती। पराभक्ति से इस आनन्द स्वरूप में नित्य अवस्थिति होती है। यह किसी उपाय के द्वारा प्राप्त होनेवाला पदार्थ नहीं है।

नारद ने जो पराभक्ति को मात्र 'फल' नहीं कह कर 'फलरूपा' कहा, उसकी विशेष सार्थकता है। कर्म या साधनसापेक्ष फलमात्र अनित्य हैं, किन्तु भक्ति नित्य है। जीव को अपने आनन्दस्वरूप की यथार्थ उपलब्धि होने पर पुनः उससे गिरने की आशंका नहीं रहती। इसी कारण भक्ति श्रेष्ठ है।

गीता में भगवान् ने कहा है, विचार और साधना के फलस्वरूप जब चित्तशुद्धि होती है, इन्द्रियों की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तब जीव को भक्ति की प्राप्ति होती है। इसी से भक्ति को कर्म, ज्ञान, और योग का फल कहा गया है।

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
> अहंकारं बलं* दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः।
> ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
>
> गी० १८।५१।५५

'जिस साधक की बुद्धि शुद्ध हो गयी है, जिन्होंने धैर्य के साथ देह और इन्द्रियों को संयत कर लिया है, जिन्होंने शब्दादि विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) एवं राग और द्वेष को त्याग दिया है, जो निर्जन वासी, मिताहारी हैं, जिनके वाक्य, देह और मन अपने वशीभूत हैं, जो वैराग्यवान् और ध्यान निरत हैं, जो अहंकार, बल, दर्प काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग कर ममतारहित और शान्त हो गये हैं, वे ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ हैं। ब्रह्मभाव को प्राप्त और प्रशान्तचित्त साधक किसी वस्तु के लिए शोक नहीं करते, किसी वस्तु की कामना नहीं करते; वे सभी जीवों के प्रति समदर्शी होते हैं एवं मुझसे पराभक्ति लाभ करते हैं। इसी भक्ति के द्वारा वे मेरे स्वरूप से अवगत होते हैं एवं मुझमें प्रवेश करते हैं।"

"ईश्वर को प्रेम करना, यही सार है। भक्ति ही सार है।"

"भक्ति ही सार है। सच्चे भक्त को किसी तरह के भय और चिन्ता नहीं होती।"

ईश्वरस्यापि अभिमानद्वेषित्वात् दैन्य प्रियत्वात् च ॥२७॥

च (एवं) ईश्वरस्य अपि (ईश्वर का भी) अभिमान द्वेषित्वात् (अभिमान के ऊपर (द्वेषभाव रहने के

---

*बलं बलवतं चाहम् कामरागं विवर्जितं।

कारण (एवं) दैन्य प्रियत्वात् (दीनता के प्रति प्रीति रहने के कारण [कर्म, योग और ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है] ॥२७

ईश्वर का भी अभिमान के प्रति द्वेष एवं दैन्य के प्रति प्रीति रहने के कारण कर्म, योग एवं ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है ॥२७

अन्यान्य साधना पथों में अहंकार-अभिमान के आने की संभावना है; और अहंकार के आते ही पतन होता है; इसीसे अन्यान्य साधनाओं से भक्ति श्रेष्ठ है। जब तक अहं बोध है तब तक हृदय में भक्ति का प्रकाश नहीं होता। अहं-बोध का पूर्णतया नाश नहीं होने पर इष्ट-लाभ नहीं होता। अभिमानी के निकट से वे बहुत दूर रहते हैं; वे हैं दर्पहारी दीन बन्धु। सब कुछ छोड़कर जो सोलहो आने उनके ऊपर निर्भर रह पाता है उसे ही वे अपनी गोद में उठा लेते हैं।

भगवान का किसी के प्रति विद्वेष और किसी के प्रति अनुराग है, ऐसी बात नहीं। ऐसा होने पर तो उनका व्यवहार सामान्य मनुष्य की भाँति हो गया। उन्होंने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
गी० ९।२९

'सभी प्राणियों के ऊपर मेरा समभाव है। मेरे द्वेष का भी कोई पात्र नहीं है और प्रिय-पात्र भी कोई नहीं है। जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करता है मैं उसके अन्तःकरण में निवास करता हूँ, और वह भी मेरे संग रहता है।'

तब फिर अन्यत्र जो उन्होने कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना: मूढा जन्मनि जन्मनि।
माम प्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
गी० १६।१९-२०

द्वेषपरायण क्रूर नराधम लोगों को वे नरक में डाल देते हैं। वे मूढ़गण उन्हें पाकर जन्म-जन्म में अधोगति को प्राप्त करते हैं—इसका क्या अर्थ है? उनकी बात क्या स्वविरोधी नहीं है? नहीं। उनकी करुणा का स्रोत शत धार होकर बहता है। किन्तु मैं अपने अहंकार के बाड़ा-जाल में आबद्ध होकर मरता हूँ—उनकी करुणा के स्रोत में शरीर को डाल कहाँ पाता हूँ? यह जो रेशम के कीड़े की तरह अपने ही धागे में बद्ध होकर मरने की अवस्था है! अभिमान में बद्ध रहने के कारण उनकी करुणा का अनुभव नहीं होता है। इसीसे इतने दु:खों, इतनी ज्वालाओं ने हृदय को नरक की यंत्रणा से भर दिया है। यह नरक तो उनका दिया हुआ नहीं है—यह तो मेरे अपने अभिमान की सृष्टि है। अपने दोष से मरता हूँ और सोचता हूँ कि भगवान् कितने निष्ठुर हैं। सब कुछ छोड़कर जो दीनभाव से केवल उनको ही चाहता है उस भक्त का हृदय "भगवान् का बैठकखाना" होता है। अभिमानी उनकी करुणा का अनुभव नहीं कर पाकर सोचता है, लगता है भगवान उसके प्रति द्वेष-परायण हैं।

"उनकी सेवा, वन्दना और अधीनता—अथवा दीनभाव, इसे लेकर विश्वास कर पड़े रहते-रहते सब होगा—उनका दर्शन पाया जायगा ही।"

"अहंकार और अभिमान के रहने पर भक्ति नहीं होती, 'मैं'—रूप टीले के ऊपर ईश्वर का कृपा रूपी जल जमता नहीं।"

"एक दिन किसी बड़े आदमी का एक दरवान कपड़े में ढंके हुए एक शरीफा लेकर बाबू की कचहरी के एक किनारे आकर खड़ा था। बाबू ने उससे जिज्ञासा की, 'क्या दरबान, हाथ में क्या है? दरबान ने अत्यंत संकुचित भाव से एक शरीफा बाहर निकाल कर बाबू के सामने रखा—उसकी इच्छा थी कि बाबू इसे खायें। बाबू ने उसके भक्तिभाव को देखकर उसे आदरपूर्वक लेकर कहा, 'यह तो बड़ा अच्छा शरीफा है, तुम इसे कहाँ से ले आये?'

"श्रीकृष्ण को दुर्योधन ने बड़े यत्न से अपने घर पर भोजन करने का आग्रह किया। लेकिन भगवान् ने विदुर की कुटिया में साग को अमृत की भाँति खाया। कभी ईश्वर चुम्बक होते हैं और भक्त सुई। तथा कभी भक्त चुम्बक और ईश्वर सुई होते हैं। भक्त उन्हें खींच लेते हैं—वे भक्तवत्सल, भक्ताधीन जो हैं!"

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥२८॥

तस्या (उस पराभक्ति का) ज्ञानम एव (केवल मात्र ज्ञान) [होता है] साधनम् (प्राप्ति का उपाय) इति (इस प्रकार) एके (कोई-कोई) [कहते हैं] ॥२८

किसी-किसी के मत से ज्ञान ही इस भक्ति की प्राप्ति का साधन है ॥२८

शुद्धाभक्ति को पाने के लिए पहले चाहिए इष्ट का परिचय— पथ का परिचय। सभी साधनों का आरम्भ जिज्ञासा से होता है—क्या चाहिए, क्यों चाहिए, उसे किस उपाय से पाऊँगा? नहीं जानने पर किसे पुकारूँगा? वे हैं सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, आर्त्त-वन्धु। पुकारने पर उत्तर देते हैं—इस प्रकार का विश्वास किंचित् परिमाण में भी नहीं रहने पर भजन की प्रवृत्ति क्यों होगी? आर्त या अर्थार्थी भक्त जब पुकारता है तव उसको भगवान् के विषय में और कोई ज्ञान न रहे, अंततः मात्र यह ज्ञान उसे रहता है कि ईश्वर उसकी आर्तता का नाश या अभिलाषा की पूर्ति करेंगे। इसी से किसी-किसी के मतानुसार ज्ञान भक्ति का साधन है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥२९॥

अन्ये (फिर कोई-कोई) अन्योन्याश्रयत्वम् (ज्ञान एवं भक्ति परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं) इति (ऐसा कहते हैं) ॥२९

फिर कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे का आश्रय लेकर रहते हैं ॥२९

जो यह कहते हैं कि ज्ञान से रहित भक्ति नहीं होती और भक्ति को छोड़कर ज्ञान ठहर नहीं पाता उन लोगों की युक्ति इस प्रकार की है—

ज्ञान, इच्छा और क्रिया—ये तीनों मन की वृत्तियाँ हैं। मन कुछ करना चाहता है, कुछ जानना चाहता है तथा किसी को प्रेम करना चाहता है। इन तीनों वृत्तियों का समान रूपसे अनुशीलन करने से जीवन का पूर्ण विकास होता है। कर्म और प्रेम को छोड़कर केवल बुद्धिवृत्ति का अनुशीलन करने से मन हो जाता है कठोर और नीरस। विचार और कर्म को त्याग कर केवल मात्र प्रीतिवृत्ति का अनुशीलन करने से अर्थहीन भावुकता की वृद्धि होती है। फिर ज्ञान और प्रेम से रहित होकर किया गया कर्म पागल की लक्ष्यहीन चेष्टा के समान हो जाता है। ज्ञान छोड़कर भक्ति नहीं होती और भक्ति छोड़कर ज्ञान भी नहीं होता। सच्चिदानन्द घन तत्व की अन्तरात्मा रूप में अनुभव करने के वास्ते तो पहले प्रीति की साधना चाहिए। प्रेम करने पर ही तो जानने की इच्छा होती है, जानने के लिए कष्ट स्वीकार करने की प्रवृत्ति जगती है। चित्त को शुद्धकर सत्य को हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिए ही अद्वैतवादी साधकगण भी उपासना का आश्रय ग्रहण करते हैं।

स्वयं फलरूपता इति ब्रह्मकुमारः ॥३०॥

[भक्ति की] स्वयं फलरूपता (अपनी फलस्वरूपता है) इति (यह) ब्रह्म कुमार: (नारद) [कहते है] ॥३०

नारद के मत के अनुसार भक्ति स्वयं फलरूपा है ॥३०

भक्ति कोई साधना नहीं है। इसे ज्ञान का आश्रय लेकर रहने की भी आवश्यकता नहीं है। यह साध्यवस्तु है। यह—स्वयं फलस्वरूप। भक्ति किसी कर्म या किसी साधना के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती। नारद के मतानुसार घिसने-माँजने से प्रेम नहीं होता। भाग्यवान् साधक के सौभाग्य से यह स्वयं ही आ जाता है। यह नित्यसिद्ध वस्तु है, साधना के द्वारा इसे फिर किस प्रकार पाया जा सकता है? साधना के द्वारा अहं का नाश होता है, चित्तशुद्धि होती है। किन्तु चित्तशुद्धि ही ईश्वर-लाभ नहीं है।

प्रेमस्वरूप भगवान् स्वयं ही कृपाकर भक्त के हृदय में प्रकाशित होते हैं; साधना में इष्ट को प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है । उनकी कृपा शतधार होकर नित्य प्रवाहित होती है—हमलोगों के द्वारा केवल उसे ग्रहण करने की अपेक्षा है ।

पहले ही नारद ने कहा है, भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है । वहाँ साधना के उपायस्वरूप ज्ञान की बात कही गयी है, वस्तु के स्वरूपज्ञान को लक्ष्य नहीं किया गया है । वस्तु का स्वरूप जो ज्ञान है वह ज्ञान और पराभक्ति एक ही वस्तु है । जिस सत्यवस्तु को पाने के लिए कर्म, योग, ज्ञान आदि साधन पथों का अवलम्बन किया जाता है, पराभक्ति वही वस्तु होती है ।

राजगृह-भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राजगृह-भोजनादिषु (राजगृह एवं भोजन आदि के कार्यों में) तथा एव (ऐसा ही) दृष्टत्वात् (देखा जाता है ।) ॥ ३१

राजगृह एवं भोजन आदि के कार्यों के ज्ञान में भी ऐसा ही देखा जाता है ॥ ३१

राजगृह एवं भोजन आदि कार्यों के ज्ञान में क्या देखा जाता है ?

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥३२।

[केवल मात्र] तेन (राजप्रसाद या भोजनीय वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान के द्वारा) राज परितोषः (राजा के सन्तोष का विधान) वा (अथवा) क्षुधाशान्तिः न (क्षुधा-निवारण संभव नहीं होता) ॥३२

यहाँ ज्ञान की जो बात कही गयी है उसमें केवल पथ की खोज है । काशी जाने के पथ की थोड़ी-बहुत जानकारी रहने पर भी उस जानकारी के द्वारा विश्वनाथ का दर्शन नहीं हो पाता है । राजप्रासाद या राजा के ऐश्वर्य के सारे तथ्यों को समग्ररूप से जानने पर भी उसके द्वारा राजा को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है, रसोई घर में उपस्थित खाद पदार्थ के परिमाण एवं गुणों-अवगुणों को जानने पर भी भूख नहीं मिटती । इसी प्रकार केवल ज्ञान के द्वारा इष्ट प्राप्ति से उत्पन्न परमानन्द की प्राप्ति संभव नहीं होती । इसी से ज्ञान से पराभक्ति श्रेष्ठ है ।

"भक्ति ही सार है । विचार के द्वारा ईश्वर को कौन जान पायगा ? मेरी आवश्यकता है भक्ति । उनका अनन्त ऐश्वर्य है; इतना जानने की मुझे क्या जरूरत ? एक बोतल मदिरा से यदि नशा हो जाता है तो कलाल की दूकान में कितना मन मदिरा है इस खबर की मुझे क्या दरकार ? एक लोटा जल से यदि मेरी प्यास बुझ जाती है तो पृथ्वी में कितना जल है इसकी खबर की मुझे जरूरत नहीं है ।"

"मनुष्य जीवन का उद्देश्य है भक्ति लाभ करना । और सब माँ जानती हैं । बागीचे में आम खाने आया हूँ, कितने पेड़ हैं, कितनी डालियाँ हैं, कितने करोड़ पत्ते हैं, बैठे-बैठे इन सब का हिसाब करने की मुझे क्या दरकार ? मैं आम खाता हूँ, पेड़-पत्ते का हिसाब करने की मुझे जरूरत नहीं ।"

यदि यदु मल्लिक के साथ किसी प्रकार वार्तालाप कर सको तो यदि तुम्हारी इच्छा हो, यदु मल्लिक को कितने घर हैं, सरकार के कितने ऋण-पत्र उन्होंने खरीदे हैं, कितने बगीचे हैं, यह भी जान पाओगे । यदु मल्लिक ही कह देगा । किन्तु उसके साथ यदि बातचीत न हो, उसके घर में पैठने जाने पर यदि दरबान पैठने न दे, तब कितने कमरे हैं, सरकार के कितने ऋण पत्र हैं, कितने बगीचे हैं, इन सबकी सही जानकारी कैसे पाओगे ? ईश्वर को जानने पर सब कुछ जाना जाता है; किन्तु सामान्य विषयों को जानने की आकांक्षा नहीं रहती ।······पहले ईश्वर की प्राप्ति, फिर संसार या अन्य बातें ।"

तस्मात् सा एव ग्राह्या मुमुक्षिभि : ॥३३॥

तस्मात् (इसी लिए), मुमुक्षिभः (मोक्ष की कामना करने वालों के द्वारा), सा एव (एकमात्र वह पराभक्ति ही), ग्राह्य (ग्रहणीय है) ॥३३

इसीलिए जो मुक्ति चाहते हैं, वे भक्ति का आश्रय ग्रहण करेंगे ॥३३

भक्ति का उदय होने पर संसार का वन्धन स्वयमेव गिर जाता है—मुक्ति के लिए भक्त को चेष्टा नहीं करनी पड़ती। फिर यह भक्ति लाभ कितना सहज है ! प्रेम तो जीव की स्वभावसिद्ध वस्तु है। वह तो दिन-रात सबको प्रेम ही करता है—किन्तु यह प्रेम अपात्र के प्रति होने के कारण उसे इतना दुःख है। वास्तविक प्रेमास्पद को ढूँढ़ पाने पर सारे दुःख मिट जाते हैं। भक्ति के उदय होने पर प्रेमास्पद भक्त के साथ नित्य अनेक प्रकार की लीलाएं करते हैं। इसीसे, भक्ति का आश्रय लेने पर ही जीवन सार्थक हो जाता है।

"डुबकी लगाओ। ईश्वर को प्रेम करना सीखो। उनके प्रेम में मग्न हो जाओ। सभी लोग बाबू का बागीचा देखकर अवाक् हैं—कैसे पेड़, कैसे फूल, कैसी झील, कैसी बैठकखाना, कैसी उसकी छवि—यह सब देखकर अवाक् हैं। किन्तु बागीचे के मालिक जो बाबू हैं। उन्हें कितने लोग ढूँढ़ते हैं ? बाबू को ढूँढ़ते हैं दो-एक आदमी। व्याकुल होकर ईश्वर को ढूँढ़ने पर उनका दर्शन होता है, उनके साथ आलाप होता है, बातें होती हैं, जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ बात करता हूँ। सच कहता हूँ, दर्शन होता है।

यह बात किससे कहता हूँ—कौन विश्वास करता है ?" (क्रमशः)

◻

प्रिय साधकों के नाम

स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज के आध्यात्मिक पत्र

अनुवादक— ब्रह्मचारी प्रज्ञा चैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर

(४)

श्रीहरिः शरणम्

प्रिय ····,

तुम्हारा १९ अग्रहायण का पत्र मिला।····आश्रम में सभी को मेरा शुभ आशीर्वाद कहना। प्रभु की कृपा से तुम सभी उन्हीं की ओर अग्रसर होओ, यही उनसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है।

लगता है तुम मेरे पिछले पत्र का मर्म ग्रहण नहीं कर सके। मेरे कथन का तात्पर्य यह न था कि कोई भी साधना मत करो; बल्कि यह कि भगवान साधन-साध्य नहीं हैं; उनकी कृपा से ही उन्हें पाया जा सकता है—यही समस्त शास्त्रों व सभी महात्माओं का सिद्धांत है। दूसरे शब्दों में, मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि साधना का अकार आहंकर कहीं मन में घर न कर ले, इसके लिए प्रयास करना और पूर्णरूपेण उन्हीं पर निर्भर करना। इस भय को मन से निकाल डालो कि कहीं चित्त अशान्त होकर उनके पथ से विचलित न हो जाय। ठाकुर कहा करते थे—"जितना ही पूरब की ओर बढ़ोगे, पश्चिम उतना ही पीछे छूटता जायगा।" भजन में जितना ही मनोयोग करोगे, अन्य भाव उतने ही दूर होते चले जायेंगे। जो विपत्ति नहीं आयी है, उसे कल्पना के द्वारा बुला लाने की क्या आवश्यकता ? मृत्यु अवश्यम्भावी है—इस कारण डरकर क्या कोई आत्महत्या कर लेता है ? बाद में कहीं कोई विघ्न न आ पड़े, इस चिन्ता से हानि छोड़ कोई लाभ नहीं है। विश्वास रखना होगा कि मैंने भगवान् की शरण ली है, अतः मेरी सारी बाधाएँ और विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी। मेरे ऊपर भला कैसी विपदा आ सकती है ? अधिकारी

सबल हो या निर्बल, निर्भरता के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। मैं तो इतना ही जानता हूं, तुम यदि इसके अलावा भी कुछ जानते हो तो आजमा कर देख सकते हो।

भगवान् की ओर एक पग भी आगे बढ़ने पर, वे दस पग बढ़ आते हैं—यही बात मैंने आजीवन सुनी है और जीवन में थोड़ा-बहुत अनुभव भी किया है। परन्तु तुमने तो उल्टी और बड़ी अयुक्तिसंगत बात लिखी है। भगवान् अन्तर्यामी है, वे सबकुछ समझते और जानते हैं—इस विश्वास के बिना साधन-भजन कैसे करोगे? यह बात मेरी समझ में नहीं आती। उन्हें पाने को चित्त खूब अशान्त हो, परन्तु यह ध्यान रखना कि वह किसी अन्य आशा में चंचल न हो। खानदानी किसान खेती के द्वारा ही अपना गुजर-बसर करता है, अन्य व्यवसाय करने नहीं जाता।

"माँ श्यामा! बोल, और किसे पुकारूँ? बच्चा तो केवल माँ को ही पुकारता है। मैं कोई ऐसी माँ की संतान थोड़े ही हूँ, जो जिस-तिस को माँ कहूँगा। माँ यदि पुत्र को पीटे, तो भी शिशु 'माँ' 'माँ' कहकर ही तो रोता है। गला पकड़कर ढकेलने पर भी तो वह 'माँ' 'माँ की ही टेर लगाये रहता है।"* यही भाव मेरे मन को भाता है। तुमने पूछा है कि—"प्रभु का भजन किये जाना क्या मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर है?" मेरा उत्तर है—कुछ भी मानव-इच्छा के अधीन नहीं है—यही बात समझ में आ जाने पर निर्भरता और कृपा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता। तुमने बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिखी हैं। थोड़ा विचारशील बनो। पाल उठाने का तात्पर्य और कुछ नहीं, सिर्फ भजन किये जाना है। मन यदि उनकी ओर उन्मुख होना न चाहे, तो उसके कान उमेठना या और भी सख्त दण्ड देना। अभ्यास का अर्थ है--चित्त में एक ही भाव बनाये रखने का बारम्बार प्रयास. यह अभ्यास श्रद्धा और प्रेमपूर्वक होना चाहिये। निर्जनवास के द्वारा अपने मन की पहचान होती है, जिससे उपयुक्त उपाय को चुनने में आसानी होती है। संन्यास का अर्थ है--उन्हीं में पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण। भीतर एक भाव और बाहर दूसरा नहीं होना चाहिये। यही जीवन का परम उद्देश्य है। इति।

—तुरीयानन्द

*एक बंगला भजन का भावार्थ।

प्रिय सु⋯,

तुम्हारा ८ मार्च का पत्र यथासमय मिला था, परंतु इच्छा रहते हुए भी विविध कारणोवश तत्काल उत्तर न दे सका।⋯

तुमने अपनी अवस्था के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे मुझे ऐसा लगता है कि तुमने अपना रोग ठीक-ठीक पहचान लिया है। यह चीज सिर्फ तुम्हारे ही जीवन में सही उतरती है, सो बात नहीं है। सभी के लिये यह ऐसा ही है। बाड़ हटाकर हम स्वयं ही अपनी प्रगति का पथ अवरुद्ध करते हैं। मैं ऐसा नहीं कहता कि बाड़ की आवश्यकता है ही नहीं; तथापि यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि कब उसकी जरूरत है और कब नहीं—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥* इत्यादि

जिसको कभी प्रयत्नपूर्वक आवाहन करना पड़ता है, समय बीत जाने पर उसका विसर्जन करना भी अत्यंत आवश्यक है। अवस्था में परिवर्तन के अनुसार व्यवस्था में भी परिवर्तन, यही और क्या! परन्तु इसका निर्णय करना निःसन्देह बड़ा ही कठिन है। तो भी यह निश्चित है कि प्रभु के हाथ में सारा भारसौंपकर निश्चिंत हो जाने पर, किसी भी चीज के लिये सोच नहीं करना पड़ता। प्रभु की कृपा से सब ठीक हो जायगा—चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। भगवत् शरणम्, भगवत् शरणम्। हमारा स्नेह स्वीकार करना। इति।

—तुरीयानन्द

*"जो मुनि योगावस्था में आरोहण करने के इच्छुक हैं, उनके लिये कर्म ही उपाय कहा गया है; और जो योगावस्था में आरूढ़ हो चुके हैं, उनके लिये शम यानी कर्मत्याग को उपाय कहा गया है!"

(गीता, ६/३)

बचाने वाला बड़ा होता है

—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (म०प्र०)

प्रातः काल का समय था। मन्द मन्द समीर बह रहा था। पक्षी चहचहा रहे थे। राजोद्यान में एक सुन्दर किशोर राजकुमार अपने विचारों में खोया हुआ चला जा रहा था। किनारे पर के पौधों में खिले हुए पुष्प खिलखिलाते हुए हंस कर मानो उसे आमंत्रण दे रहे थे। परन्तु वह उनके आमन्त्रण से बेखबर संसार की अनित्यता पर चिन्तन करता हुआ पथ पर विचरण कर रहा था।

तभी अचानक एक चीत्कार ध्वनि से उसकी विचार श्रृंखला भंग हुई। उसने देखा कि एक सुन्दर हंस तीर से घायल होकर उसके पैरों के पास पड़ा हुआ तड़फड़ा रहा है। करूण नेत्रों से उसकी ओर देखकर प्राणों की भिक्षा मांग रहा है। यह देखकर किशोर का मन करुणा से द्रवीभूत हो गया। उसने हंस को अपनी गोद में उठा लिया तथा उसे तालाब के पास ले गया। वहाँ उसने उसके शरीर से तीर निकाल कर उसके घावों को शीतल जल से धोया। अब हंस की पीड़ा कम हुई तथा वह कृतज्ञता से किशोर की ओर देख कर अपनी मूक भाषा में मानो उसे धन्यवाद देने लगा। तभी एक दूसरा किशोर धनुष-बाण लिए हुए वहाँ आ पहुँचा। राजकुमार की गोद में हंस को देख कर उसने क्रोध से कहा कि राजकुमार यह हंस मेरा है। मैंने इसका शिकार किया। इसको मुझे सौंप दो। यह सुन कर किशोर राजकुमार ने उत्तर दिया कि यह हंस मेरा है; क्योंकि मैंने इसकी प्राणरक्षा की है। हंस को लेकर दोनों में वाद विवाद होने लगा।

दोनों किशोर विवाद के हल के लिए महाराजा के पास गए। महाराज शुद्धोधन अपने सिंहासन पर मंत्रियों के साथ विराजमान थे। दरबार लगा हुआ था। दोनों किशोरों ने अपना-अपना पक्ष महाराज से कह कर न्याय की याचना की। महाराज ने कुछ समय मौन रहकर निर्णय दिया कि मारने वाले से बचाने वाले का अधिकार अधिक होता है। अतः यह हंस राजकुमार का है। निर्णय सुन कर राजकुमार की आंखों में प्रसन्नता के आंसू आ गए। वह हंस को सहलाते हुए दरबार से बाहर आ गया। हंस को प्राणदान देने वाले राजकुमार का नाम था सिद्धार्थ। जो आगे चल कर करूणावतार तथागत भगवान बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रामकृष्ण विवेकानन्द-सेवाश्रम, गोमिया (बिहार)

गोमिया, ८ अगस्त। रामकृष्ण-विवेकानन्द-सेवाश्रम, गोमिया में विवेकानन्द बाल-विद्यालय की स्थापना के संदर्भ में आज एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया। उक्त अवसर पर एक जन-सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता श्रीमत स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी महाराज, सचिव, रामकृष्ण मिशन, राँची ने की।

जन-सभा के पूर्व स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी ने श्रीराम कृष्ण, श्री माँ सारदा एवं श्रीमत स्वामी विवेकानन्दजी की छवि का वैदिक रीति से पूजन-अर्चन कर आरती की। स्वामी मोधानन्दजी महाराज ने भी पूजन-अर्चन में सह-भाग लिया।

मुख्य वक्ता के रूप में डॉ० केदारनाथ लाभ ने वर्तमान युग की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और अमृतोपम वचनों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि वर्तमान भारत इन्हीं महापुरुषों के पावन नाम का अवलम्बन लेकर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

रामकृष्ण मिशन, राँची के स्वामी मोधानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण के महत्त्व की चर्चा करते हुए बताया कि जहाँ बिजली नहीं पहुँची है वहाँ भी श्रीराम कृष्ण पहुँच चुके हैं। उनके विचारों को अपनाने की आज जितनी जरूरत है उतनी पहले नहीं थी। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला और उन्हें अपनाने पर जोर दिया।

श्रीमत स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी महाराज ने श्रीराम कृष्ण के गुणों का विशद विवेचन करते हुए उनके अवतार-रूप पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि कलियुग में लोक-कल्याण के लिए स्वयं नारायण ने ही रामकृष्ण के रूप में अवतार लिया।

अंत में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी महाराज पर बनी फिल्मों का प्रदर्शन रामकृष्ण मिशन, राँची की ओर से किया गया।

रूस-चीन में विवेकानन्द का सम्मान

नयी दिल्ली, २७ जून। सोवियत संघ और चीन गणराज्य के लोग स्वामी विवेकानन्द को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन देशों के दो विद्वान रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन का अध्ययन कर रहे हैं। यह विचार रामकृष्ण मिशन के स्वामी लोकेश्वरानन्दजी महाराज ने व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि चीन के समाज विज्ञान अकादमी के निदेशक हुआन जिन युआन ने अपने पत्र में लिखा है कि चीन के स्वतंत्रता संग्राम में चीनी जनता को स्वामी विवेकानन्द का समर्थन और सहानुभूति मिली थी।

सोवियत विज्ञान अकादमी के सह सदस्य डॉक्टर पी० देचेलीशेव ने अपने पत्र में लिखा है कि सोवियत जनता स्वामी विवेकानन्द को महान लोकतंत्रवादी, मानवविद् और राष्ट्रभक्त मानती है।

We need to have three things; the heart to feel, the brain to conceive, the hand to work. (VI-144)

SWAMI VIVEKANANDA

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

—स्वामी विवेकानन्द

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

—SWAMI VIVEKANANDA